

संत वाणी और युगीन प्रासंगिकता (हिन्दी संत काव्य के सन्दर्भ में)

संजय कुमार लक्की

एसोसिएट प्रोफेसर 'हिन्दी', राजकीय महाविद्यालय शाहाबाद जिला बारां, राजस्थान (भारत)

E-mail: sanjaykumarlucky@yahoo.com [M:+91-9462554518]

About the Author

सम्प्रति- एसोसिएट प्रोफेसर 'हिन्दी', राजकीय महाविद्यालय शाहाबाद जिला बारां, राजस्थान

Note in English

Hindi Criticism

“जाति पाँति पूछे नहीं, हरि को भजे सो हरि को होई” एवं ‘घट घट व्यापक राम, ब्रह्म बीज का सकल पसारा’। हिन्द-तुरक का कर्ता एक, पीर सबन की एक सी, की गंगा-जमुनी परंपरा एवं धर्म के नाम पर मानव-धर्म एवं लोक धर्म की प्रतिष्ठा करने का पहला प्रयास हिन्दी साहित्य में, भक्ति काल के अन्तर्गत ‘संत साहित्य’, ज्ञानाश्रयी मार्गी भक्त कवियों संतों द्वारा हुआ। अस्वीकार का दुस्साहस रखने वाले अक्खड़, फक्कड़, घुमक्कड़ इन संतों ने ‘मसि कागद छुयो नहीं, कलम गहि नहीं हाथ’ से ‘ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय’ की दीर्घ अध्यात्म यात्रा तय की एवं स्वानुभूत सत्य, मर्म को जनभाषा, सधुक्कड़ी भाषा में, देशज परंपरा से सिक्त कर जनभाषिक प्रतीकों, मिथकों, रूपक योजना से सहज वाणी से परंपरा प्राप्त वेद, उपनिषद, जैन, बौद्ध, महायान, कापालिक-

तांत्रिक साधना आदि से प्राप्त सत्य, अनुभव को लोकानुभव लोकानुभूति को सर्वग्राह्य, सर्वसुलभ बनाया। वस्तुतः “संत द्वारा, भक्ति साहित्य इस देश का सर्वाधिक प्रबल, विराट सांस्कृतिक आंदोलन बना जिसकी जड़ें गाँव गाँव, देश देश, देश प्रदेश में फैली” [1]

संत हृदय नवनीत समाना : संत : व्युत्पत्ति, अर्थ, वैशिष्ट्य :

व्यावहारिक जीवन में ‘संत’ का प्रयोग प्रायः बुद्धिमान [2], पवित्रात्मा [3], सज्जन [4], परोपकारी [5] एवं सदाचारी [6] के लिए किया जाता रहा है।

छांदोग्य उपनिषद् [7] में माना गया, “आरम्भ में एक अद्वितीय ‘सत’ ही विद्यमान था। ऋग्वेद [8] में कहा गया, “क्रांतदर्शी विप्र लोग उस एक एवं अद्वितीय ‘सत’ का ही वर्णन अनेक प्रकार से किया करते थे।

वांगमय एवं भाषिक साहित्यों में वर्णित अनेकानेक लक्षणों को साररूप में यही संकेतित होता है कि “जिसने सत् रूपी परम तत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उससे तद्रूप कर लिया हो। जो सत्य स्वरूप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखंड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया है, वही संत है [9]।”

संत स्वभाव और वैशिष्ट्य को बहुविधि सगुण निर्गुण भक्तों ने पदों, साखियों में व्याख्यायित किया है। कबीर मानते हैं, ‘संतों का लक्षण उनके निर्वेरी, निष्काम, प्रभु का प्रेमी और विषयों से विरक्त होना है [10]।”

मानस मर्मज्ञ तुलसी ‘संत महिमा’ प्रतिपादित करते हैं, “सभी सांसारिक संबंधों के प्रति प्रदर्शित ममता के धागों को बटेर लेने उन्हें सुदृढ़ रस्सी में बंटकर उसे प्रभु-चरणों में बांध देने, समदर्शी बने रहने तथा किसी भी प्रकार की कामना न रखने को ही संत के प्रधान लक्षण माने जाते हैं[11]।”

संत प्रवाह का अखिल भारतीय स्वरूप :

संत धारा भारतीय सांस्कृतिक परिवेश प्रसूत है। संत साहित्य का सामाजिक आधार समाज का कथित निम्न सामाजिक स्तर रहा है। संत काव्य की प्रेरणा भारतीय परिवेश में पहले से ही व्याप्त रही है। लेकिन प्रखर अभिव्यक्ति ‘अस्वीकारोक्ति’ के प्रथम पुरस्कर्ता कबीर, जिन्होंने ‘कबीर संसार दूर करि, पुस्तक देह बहाई’ के घोष से जीवन की प्रत्यक्ष चुनौतियों का सामना किया और उन्हें निर्मूल किया।

कबीर, रैदास, रज्जब, दादू, मलूकदास, नानक आदि संतों ने लोकानुभूति को भाषा-संध्या, ‘सधुक्कड़ी’ में सार्वजनिक बनाया।

दक्षिण में प्रवाहित भक्ति को उत्तर भारत में लाने का श्रेय रामानंद को जाता है। उनकी शिष्य परंपरा : कबीर, तुलसी, महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वरी, नामदेव, गोरा कुम्हार, साँवला माली, नरहरि सोनार, चोखा भंगी, जनाबाई दासी, सेना नाई तो उत्तर भारत में कबीर पंथ, निरंजनी संप्रदाय, विश्णोई संप्रदाय, जसनाथी, सिद्ध संप्रदाय, हीरादासी संप्रदाय, लाल पंथ, दादू पंथ, बावरी पंथ, मलूक पंथ, प्राणनाथी संप्रदाय, सत्तनामी संप्रदाय, रामसनेही संप्रदाय, गरीब पंथ, साहिब पंथ, राधास्वामी सत्संग आदि बहुविध सगुण निर्गुणियों की वृहद् परंपरा सात शताब्दियों बाद आज भी क्षेत्र विशेषों में न केवल जीवंत है, अपितु इनकी वाणियों, उपदेशों की प्रासंगिकता नित प्रति उपादेय बनी हुई है। युगीन प्रासंगिकता और संत-वाणी :

मानुष जीवन का अनिवार्य आनुषांगिक तत्त्व है - धर्म। धर्म, विवेक ही मनुष्य को पशु जगत से पृथक् करने वाला विधायक अभिलक्षण है।

“धर्म संबंधी धारणा से ही प्रेरित विवेकी मनुष्य अपने सहजीवियों आत्मा दोनों से नाता जोड़ते हुए इहलोक जीवन का मंगलमय बना सकता है [12]। ”

संत-साहित्य में धर्म जीवन, व्यक्तित्व-कृतित्व का महत्त्वपूर्ण अंग बना। तद्युगीन जीवन अत्याचार, अनाचार, अंधविश्वास एवं रुढ़ियों से परिपूर्ण था जो किसी भी स्तर से अनुकरणीय नहीं था। संतों ने देशज मिट्टी से धर्म, संस्कृति को अंगीकार कर ऐसे लोक धर्म की प्रतिष्ठा की, जिसमें न केवल युगीन संत्रास का

प्रखर विरोध था अपितु निराशा से ग्रस्त आम जीवन को जीवन, आशा, प्रेरणा से आप्लावित करने का संबल प्रस्तुत करना भी था। एक सच्चा मानव धर्म जिसका आधार प्रेम हो, समत्व हो, समरसता हो, की प्रतिष्ठा की।

संतों ने मानव-मन की परख की, साधा। इसी कारण राम-रहीम, काशी-काबा एक हो गए। उनकी वाणियों में वैदिक कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा, तीर्थाटन का निषेध है। यह क्रांतिकारी चिंतन, दर्शन, अनुभव के तप से प्रसूत स्वानुभूत सत्य बना। संत वाणी की निम्न प्रदेय आज भी प्रासंगिक है।

जाति-पाँति का विरोध:

तदयुगीन समाज में धार्मिक कट्टरता, कुरीतियों का बोलबाला था। उच्च वर्ग प्रभुत्व सम्पन्न था, सत्ता के केन्द्र में था। निम्न वर्ग के लोगों के लिए सामान्य जीवन, जीविकोपार्जन, रोज़मर्रा के कार्य उपेक्षित भाव लिए थे। ये वर्ग अधिकार विहीन थे। तब युगीन चेतना संपन्न समाज सुधारक संतों ने पारंपरिक विद्वेष जाल को तोड़ने और सर्वसमाज को जोड़ने का शंखनाद किया। कबीर सर्व भेदभावों को मिटाकर एकता का सूत्रपात करते जान पड़ते हैं -

“अरे भाई दोई कहाँ सो मोहि बताओ

विधि ही धरम का भेद बताओ [13]।”

मनुष्य तो एक स्थान से उत्पन्न होते हैं। धर्म के ठेकेदारों को ललकारा जाता है। रहीम सर्वत्र जगत में व्याप्त है। कबीर कहते हैं, यह मुल्ला झूठा है। राम और रहीम एक ही है।

“मुल्ला कहाँ पुकारे दूर

राम रहिम रहया भर पूरी [14]।”

इसीलिए कबीर सच्चे मानव धर्म की स्थापना के लिए प्रेम की अलौकिक महत्ता स्वीकारते हैं,

“प्रेम न खेती उपजे, प्रेम न हाट बिकाय,

राजा परजा जिस रुचे, सिर दे सो ले जाइ [15]।”

यारी साहब के शिष्य संत बुल्ला साहब भी मानते रहे, भगवान के चरणों में धर्म, जाति, वर्ग का कोई स्थान नहीं है। भगवान जाति-पाँति नहीं पूछते, ऊँच-नीच नहीं देखते, जो भी उनका प्रीतिपूर्वक भजन करता है, वे अपना लेते हैं-

“हे मन करु गोविंद से प्रीत

स्रवण सुनि लै नाद प्रभु को, नैव दरसन पेख [16]।”

अस्पृश्यता का पुरजोर विरोध :

अस्पृश्यता समाज की सर्वाधिक क्लुषित जाति-व्यवस्था का दूषित परिणाम है। इसका विनाशकारी प्रभाव जोरों पर था। ब्राह्मण अपने को सर्वोत्कृष्ट जानते थे। शूद्र, चाण्डाल आदि उपेक्षित एवं अस्पृश्य माने गए। इसका सर्वप्रथम विरोध कबीर ने किया। उन्होंने इसकी भर्त्सना करते हुए सबमें एक तत्त्व की प्रधानता घोषित की-

“एक बूंद एके मल मूतर, एक चाम एक गुद

एक जोति से सब उत्पन्न, कोन ब्राह्मण कौन सूद्र [17]।”

संतों के अनुसार छुआछुत का भेदभाव मानव में विरोध का भाव उत्पन्न करने में सहायक है। कोई भी द्विज, शूद्र, हिन्दू, मुसलमान होकर जन्म नहीं लेता। कबीर चीख पड़ते हैं-

“पंडित देखन मन महि जानि

कहधां धूत कहाँ, कहाँ तो उपज हो जबहि छूत तुम मानी [18]।”

हिन्दू मुसलमान में भेद विद्यमान थे। ये सब निरी धर्मान्धता के कारण थे। इसलिए साधू ने ध्येय प्रकट किया -

“अलह रोम छुरा भ्रम मोरा
बिन्दु तुरक भेद कछु नाहि, देखो दरशन तेरा[19]।”

कर्मकाण्डों का प्रखर विरोध:

कर्मकाण्ड का प्रधान ध्येय आराध्य प्रति पूजा, साधना रहा। कालांतर मे मंदिरों, मसजिदों के आविर्भाव से मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, व्रत, पुण्य कर्म, संध्यावन्दन आदि पर प्रश्न चिह्न उठ खड़े हुए। गुरु नानक ने कर्मों के आधारित अनुष्ठानों मे परिवर्तन कर लोकोपयोगी स्वरूप निर्धारित किया -

“जपन पुंज होम तप पूजा देह दुःखी स्त्री नित सुखी सा है[20]।”

मूर्तिपूजा का खण्डन:

संत काव्य परंपरा में निर्गुणियों ने अपनी साधना पद्धति में मूर्ति पूजा का विरोध किया। इन्होंने इस संकल्पना का खण्डन किया। इनके मतानुसार सभी प्रकार की बाह्य पूजाएँ अनपेक्षित है। कबीर को कहना पड़ा, “पाषाण के पुतले को लोक ईश्वर मानकर पूजते हैं, लेकिन प्रगाढ आस्था, भाव के बिना।”

“कबीर पाहन केरा पुतला, करि पूजे करतार
ईहं न भरोसे जे रहे, ते चूड़े काली धार [21]।”

संत दादूदयाल के अनुसार मूर्तिपूजा पुरोहितों का एक ढोंग है जबकि ईश्वर हमारे अंतस मे निवास करता है।

“दादू जिन कांकर पत्थर लोयेगा, सो अपना भूल
बँधाहि
अलख देय अंतरे बसे, क्या दूजौ जानय जाया [22]।”

युगीन हिन्दू-मुसलमानों के धार्मिक क्रिया कांडों पर व्यंग्य अपेक्षित है।

बाह्याचारों का खण्डन:

सभी पंथ अग्रणी परम चैतन्य को परिचित कराने में असमर्थ हैं। इसी कारण समाज में व्रत, उपवास, तीर्थाटन की संकल्पनाएँ सामने आईं। संतों ने घोषित किया है कि, व्यर्थ पूजा पाठ, परंपराओं के मोह से मुक्ति ली जा सके। कबीर झूठे पण्डितों को फटकारते हैं-

“पाण्डे, कौन कुमति तोहि लागी
तु राम न जपहि अभागी [23]।”

नाम स्मरण:

संतों ने रामनाम स्मरण आध्यात्मिकता का प्रथम सोपान तय किया। आत्म ज्ञान से नाम स्मरण से साधक तैयार होता है ‘नाम’ की सभी संतों ने प्रशंसा की है। इस दुनिया में रामनाम के अतिरिक्त कोई नहीं है। कबीर स्वीकारते हैं-

“अब मोहि राम भरोसो तोरो
और कौन को करो निहोरो [24]।”

गुरुनानक देव ने अपने दीवानेपन के संकल्प में गाया है -

“भया दीवाका राहू न नानक बौराना [25]।”

सहजोबाई के अनुसार मनुष्य जीवन के सभी व्यापारी में ‘नाम’ का स्मरण उल्लेखनीय है -

“बैठे, लेटे, चालते, खान-पान, बछौर जहाँ-तहाँ
सुमिरन करे, साहबो कियो निहार [26]।”

गुरु महिमा :

भारतीय संस्कृति में सद्गुरु महता अत्यंत मान्य है। ईश्वर से साधक को मिलाने वाला पथ -प्रदर्शक

‘गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागू पाय’ इसी की पुष्टि करता है -

“सतगुरु की महिमा अपरंपार, अनंत किया उपगार लोचन अनंत उघाड़िया, अणंत दिखावन हार [27]।”

संत दरिया साहब ने ‘सार’ शब्द को प्रमुखता दी है। गुरु की कृपा के बिना प्राप्ति संभव नहीं है, क्योंकि वह सार शब्द तीनों लोकों से न्यारा अथवा त्रिगुणातीत है -

“दरिया शब्द विचारिए, लोक तीन लोक से न्यारा गुरु से प्रभु जाने राखहु, मिलसिल सब्द निज हार। “ समकालीन भव्य कवचित्री दयाबाई का भी कथन है- “ सत् गुरु ब्रह्म स्वरूप है, आन भाव मत मान देह भाव माने दया, ते है पशु समाना [28]।”

निष्कर्षतः

हिन्दी साहित्य की भक्ति काव्यधारा के निर्गुणियों ने समस्त आप्त ग्रंथों का गहन अध्ययन, मनन, अनुशीलन कर स्वानुभूति सत्य से नए प्रेम आधारित लोक धर्म की स्थापना की। रामविलास शर्मा ने ठीक ही समीक्षित किया है, “जायसी कुरान के भाष्यकार नहीं हैं, न कबीर और दादू त्रिपिटकाचार्य है, न सूर और तुलसी वेद, गीता, मनुस्मृति के टीकाकार हैं। संत साहित्य की अपनी एक विशेषता है जो किसी भी प्राचीन धर्म ग्रंथ पर आधारित नहीं है। संतो का लोक धर्म सामंत प्रधान व्यवस्था को कमजोर करता है और धर्म को पुरोहितों-मौलवियों के वर्चस्व से मुक्त करता है।

सन्दर्भ :

- (1) कृष्णदत्त पालीवाल : ‘संत काव्य’, (समाज विज्ञान विश्व कोश, भाग 6, प्र. 1855, (2015), राजकमल प्रकाशन
- (2) संत परीक्ष्यान्यतरद्भुजन्ते मूढः पर प्रत्ययनेय बुद्धिः कालिदास

- (3) प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति संतः। “- भागवद् स्कं 1, अ. 18, श्लोक 8
- (4) बंदो संत असज्जन चरणा, दुखप्रद उभय बीच कछु वरणा”, (रामचरित मानस)
- (5) “संतः वयं परहिते विहिताभियोगाः” (भर्तृहरि)
- (6) “आचारलक्षणां धर्मः संतश्चाचारलक्षणाः” (महाभारत)
- (7) सदेव सोभ्यदमग्र आसीदेक मेवा द्वितीयम। (द्वितीय खंड)
- (8) ऋग्वेद, 10-114-5
- (9) परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत परंपरा, 1972, भारती भण्डार, इलाहाबाद, पृ. 5
- (10) कबीर ग्रंथावली, काशी संस्करण, (28,1), पृ. 50
- (11) तुलसीदास : रामचरित मानस, सुंदरकाण्ड
- (12) डॉ. अब्राहम ए.जे. : नैतिक मूल्य : परख एवं सुझाव, पृ. 31
- (13) माता प्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पद 1, राग गौड़ी, पृ. 179
- (14) माता प्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पद 1, राग गौड़ी, पृ. 181
- (15) जयसदेव सिंह : कबीर वाणी पीयूष, पृ. 51
- (16) भुवनेश्वर मिश्र : संत साहित्य और साधना, पृ. 141
- (17) श्यामसुंदर दास : कबीर ग्रंथावली, पृ. 40
- (18) वियोगी हरि : संतवाणी, पृ. 146
- (19) परशुराम चतुर्वेदी : संतकाव्य, पृ. 128
- (20) जयराम मिश्र : नानक वाणी, पृ. 690
- (21) माता प्रसाद गुप्त : कबीर ग्रंथावली, पृ. 73
- (22) दादू दयाल की वाणी, पृ. 29, भाग 2
- (23) डॉ. माताप्रसाद गुप्त, कबीर ग्रंथावली, (1) राग गौड़ी, पृ.169
- (24) डॉ. माताप्रसाद गुप्त, कबीर ग्रंथावली, (1) राग गौड़ी, पृ.211
- (25) भुवनेश्वरनाथ मिश्र : संत साहित्य और साधना, पृ. 29
- (26) भुवनेश्वरनाथ मिश्र : संत साहित्य और साधना, पृ. 31
- (27) भगीरथ मिश्र : कबीर वाणी, साखी-1
- (28) प्रताप सिंह चौहान : संत मत में साधना का स्वरूप, पृ. 127